लोक मंच

पूँजीवादी वर्ग ही विश्व नियामक

पूँजी-प्रधान अर्थव्यवस्था के बनते नए वैश्विक स्वरूप को लेकर इजराइली राष्ट्रपति शिमोन पेरेज ने दूरान्वेषी दृष्टिकोण सामने रखा है। दावोस में वैश्विक आर्थिक मंच की सालाना बैठक में उन्होंने कहा कि सरकारें राज्य-राष्ट्र के स्तर तक सीमित हैं, जबकि आज की अर्थव्यवस्था वैश्विक है। विश्वस्तरीय कंपनियाँ और कारपोरेट घराने सरकारों की भूमिका अदा करने लगे हैं, जबकि सरकार का रोजगार कम हुआ है, इसलिए शासन करना मुश्किल हो रहा है। विश्व भर की सरकारों के पास जितनी संपत्ति है, उससे अधिक 40 बड़ी वैश्विक कंपनियों के पास है। आगे वैश्विक कंपनियों की ताकत अधिक बढ़ेगी। यह स्वीकारोक्ति बहुत सार्थक है। आज की सरकारें भी स्वयं में पूँजीवादी हो गई हैं, इसीलिए विषमता बढ़ रही है, गरीबों की बदहाली में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो रहा है। पहले पूँजीपतियों के हितों के लिए सरकारें उनके इशारे पर काम करती थीं। पूँजीपतियों की बड़ी भूमिका से सरकारें बनती थीं। अब सरकार में पूँजीपति बैठे हैं। जो पूँजीपति नहीं थे, वे पूँजीपति बन रहे हैं। पूँजी की सरकार है, इसलिए सरकारी लोगों में पूँजी बनाने की स्पर्द्धा है। भारत जैसे देश में भी कारपोरेट घराने इतने मजबूत हैं कि किसी को मंत्री पद से हटाने-बनवाने की क्षमता रखते हैं, जगमोहन, जयपाल रेड्डी जैसे मंत्रियों के मंत्रालय उनके दबाव में बदले सुने गए हैं। सरकारें आम जनता के हितों के विरुद्ध कड़े-कठोर फैसले लेती है और पूँजीपतियों को छूट-पर-छूट देती हैं। आम आदमी पिस रहा है, बेरोजगारी, गरीबी, महँगाई जैसी समस्या दिनोदिन विकराल होती जा रही है। यह भी पूँजी का कमाल है कि पहले जन सामान्य से धन चूस कर फिर कुछ नकदी सीधे हस्तान्तरण करने की योजना बनती है। सरकार हस्तान्तरण जैसी राहत को बड़ी उपलब्धि बताकर बाकी सारी चीजें बाजार के हवाले कर दे तो यह लोकतांत्रिक सरकारों के कमजोर होते जाने का परिचायक है।

सुनील राय, कोटा, राजस्थान

सजा पर लामबंदी की बजाय उचित प्रक्रिया अपनाना ठीक

सर्वोच्च न्यायालय से संजय दत्त को पाँच साल की सजा मुकर्रर किए जाने पर जिस तरह माफी के लिए लामबंदी शुरू हुई, उससे न्यायालय के विवेक, निर्णय और सर्वोच्चता पर प्रश्न-चिन्ह खड़ा होता है। यह गलत संदेश भी जाता है कि किसी विशिष्ट हस्ती को न्यायालय द्वारा दोषी ठहरा कर दंड दिए जाने पर उसके कार्य क्षेत्र के लोग दबाव बनाकर बहुत आगे तक जा सकते हैं। ओम प्रकाश चौटाला के मामले में न्यायालय के इर्द-गिर्द माहौल तनावपूर्ण दिखा। 'जनमत का दबाव' बना कर न्यायालय के निर्णय को अपने हक में बदलवाने की नीयत ठीक नहीं है और निर्णय को जनमत के प्रतिकूल सिद्ध करने की कोशिश भी। संजय दत्त के मामले में भी राजनीतिज्ञों से लेकर व्यवसायियों और फिल्मी दुनिया के लोगों सहित प्रेस परिषद् के अध्यक्ष तक ने माफी के लिए पूरी मुहिम चलायी। यह विचार उचित प्लेटफार्म पर उठाया जा सकता है। शोरगुल की बजाय कार्रवाई उसी पर होगी। यद्यपि संजय दत्त खुद दया याचिका दायर करने से इनकार कर चुके हैं। लेकिन सजा पर जैसी तल्खी दिखाई गई, वह अदालत के फैसले की अनुचित अवहेलना है। तब कोई भी प्रभावी वर्ग, जिसके साथ कुछएक लोग जुड़े हों, ऐसी मुहिम चलाकर अदालती फैसले को सीधे-सीधे ठेंगा दिखाएगा। जिसके लिए लामबंदी करने वाला नहीं होगा, उसका न्याय, नीति और लोकतंत्र में विश्वास घटेगा। आखिर कौन नहीं जानता कि इस देश के हजारों लोग संभावित सजा से अधिक समय से भी जेलों में बंद हैं, क्योंकि उनके मुकदमे की उचित पैरवी नहीं होती। निर्णय दीर्घकालिक रूप से टलते रहने के कारण ही वीभत्स अन्याय होता है।

न तो जनमत का दबाव सदैव न्याय के लिए होता है और न ही फैसला सदैव न्यायोचित। समूह का मत भी अन्यायपूर्ण हो सकता है, होता देखा गया है और कुछएक आदमी का मत भी सर्वोचित हो सकता है। इसलिए न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध पुनर्विचार याचिका, दया याचना की प्रक्रिया को अपनाना आधिकारिक रूप से ठीक है, पर निर्णय को सीधे-सीधे अगूँठा दिखाकर लामबंदी करना लोकतंत्र में न्यायालय के सर्वोच्च अस्तित्व को नकारना है। इससे कल किसी और दबंग-प्रभावी समूह को न्यायिक निर्णय के खिलाफ सीधा असंतोष फैलाकर विद्रोह करने तक का रास्ता दिख सकता है। यह अदालत में तिकड़मी व भ्रष्टाचार की परोक्ष आंतरिक घुसपैठ से कम खतरनाक न होगा।

सुरेन्द्र पटेल, मुंबई

प्रधानमंत्री पद के लिए योग्यता

प्रधानमंत्री पद के लिए योग्यता को लेकर केन्द्रीय राजनीति व मीडिया में बहस जारी है। दलों के भीतर भी ऐसी स्थिति है। एक बड़े कांग्रेसी वर्ग को राहुल गांधी में यह योग्यता दिखती है तो भाजपा के एक वर्ग को नरेन्द्र मोदी में। पर सवाल यह है कि प्रधानमंत्री पद की योग्यता क्या है? जो सांसद, विधायक

बन सकता हो या इसके लिए सिर्फ चुनाव लड़ सकता हो, वह प्रधानमंत्री पद के लिए निर्धारित वैधानिक योग्यता रखता है। इस कसौटी पर इस देश की एक प्रतिशत जनसंख्या भी नहीं होगी, जो प्रधानमंत्री पद की योग्यता न रखती हो। इसकी चर्चा की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि सवा अरब की आबादी वाले इस देश में मुश्किल से दस-बीस, पचास होंगे जो प्रधानमंत्री बनने की दिशा में सोचते हैं। अत्यल्प नेता जो 'राजनीति में सक्रिय' हैं, वे प्रधानमंत्री पद को लेकर समर्थन या प्रतिद्वन्द्विता रखते हैं। दलों के लाखों कार्यकर्ताओं में भी अपने नेता प्रति ऐसी आकांक्षा होती है। इस कड़ी में कांग्रेस में ज्यादा उधेड़बुन नहीं है, क्योंकि डॉ. मनमोहन सिंह पिछले नौ वर्षों से पदस्थापित हैं। उनसे हटकर सोनिया गांधी या राहुल गांधी हैं। कुछ शीर्ष कांग्रेसियों में भी इस पद के लिए मन में लड्डू तब से फूटने लगे होंगे, जब से सोनिया जी ने त्याग दर्शाया है। भाजपा में नरेन्द्र मोदी की मजबूत दावेदारी के बावजूद आडवाणी जी की उम्मीदवारी भी खुले-छिपे इस बार के आम चुनाव में भी रहेगी। चाहे उनकी कितनी ही उम्र हो, पर सक्रियता में कमी नहीं है, लेकिन यदि इस बार ताज न मिला तो प्रधानमंत्री की उनकी उम्मीदवारी का सदा के लिए स्वाभाविक अंत हो जाएगा। किसी अन्य आकांक्षी को इसके लिए प्रयास न करना होगा। सुषमा स्वराज और मुरली मनोहर जोशी का आडवाणी समर्थक और विरोधी होना उनके लिए सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्ष हैं। नरेन्द्र मोदी द्वारा पार्टी अध्यक्ष राजनाथ सिंह से संबंध सुधारना भी केन्द्रीय स्तर पर अपने आपको मजबूत करना है; परंतु राजनाथ सिंह को जानने वाले बताते हैं कि मोदी की मजबूत दावेदारी के घोर विरोध के समय मोदी से नजदीकी राजनाथ सिंह के ही पक्ष में ज्यादा जाएगी और जिस प्रकार अध्यक्ष पद बिना मुश्किल के मिला, ठीक वैसे ही कल प्रधानमंत्री की कुर्सी भी मिल जाए! परंतु यह पद केवल भाजपा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के देने-लेने पर निर्भर नहीं है, इसलिए सारी बात बेनतीजा है।

राकेश प्रधान, खुर्जा, उ.प्र.

प्रतियोगिता-परीक्षाओं के टॉपर भी ईमानदारी से दूर क्यों?

संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षा में अंग्रेजी को अधिक तरजीह दिए जाने को लेकर हंगामे के बाद रोक लगा दी गई है, पर बहस जारी है। संघ लोक सेवा आयोग ही नहीं, अधिकांश जगह हमारा परीक्षा पैटर्न ऐसा है, जहाँ से तोतारटंत टॉपर निकलते तो हैं, पर वे यथास्थितिवादी, भ्रष्ट, कर्तव्यहीन और लालफीताशाह साबित होते हैं। अच्छा परीक्षा-फल का ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा आदि से संबं ध खत्म हो गया है। फलतः प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से उच्च पदासीन लोग भ्रष्टाचार, काहिली के नायाब नमूने पेश करते हैं। वे भ्रष्ट व्यवस्था की गंगोत्री में खुद गोते लगाते हैं और दूसरों के लिए भी मार्ग प्रशस्त करते हैं। उनकी सारी तैयारी 'कैरियरिज्म' के संकुचित विचारों तक सिमटी रहती है, जहाँ सुख-सुविधा, पैसा बनाना और पद की तिकड़म का वर्चस्व होता है, लोक सेवा का भाव अनुपस्थित रहता है। ये टॉपर भ्रष्ट-व्यवस्था की परीक्षा में भी अव्वल होते हैं। प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए बजाप्ते न्यूनतम शैक्षिक योग्यता निर्धारित है। नेताओं-मंत्रियों पर आरोप लगता है कि उनके लिए शिक्षा की न्यूनतम योग्यता निर्धारित न होने के कारण वे भ्रष्ट व अक्षम साबित होते हैं। जैसी हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था है, वह ईमानदारी के साथ जीना नहीं सिखाती। पढ़े-लिखे लोग भ्रष्टाचार में अधिक दक्ष साबित होते हैं। फलतः दिनोंदिन यह बढ़ती जा रही है। इसलिए यह कहना कि नेताओं के लिए न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता तय होने से राजनीति के स्तर पर भ्रष्टाचर कम होगा, ख्याली पुलाव ही अधिक है।

सुरुचि कुमार, रायपुर, छत्तीसगढ़

खालीपन भरने हेतु तत्पर केजरीवाल

अरविंद केजरीवाल ने दिल्ली में बिजली की बढ़ी दरों के खिलाफ पन्द्रह दिनों का अनशन करके अन्ना हजारे को बलिदान के लिए उकसाने के अपने ऊपर लगे तोहमत को खारिज कर दिया है। यह आम आदमी पार्टी द्वारा दिल्ली विधानसभा चुनाव की तैयारी भी है। अगले छह महीने के भीतर दिल्ली विधान सभा चुनाव होना है, जहाँ परम्परागत रूप से कांग्रेस-भाजपा में मुकाबला होता रहा है। पिछले साढ़े चौदह साल से कांग्रेस और उसकी नेत्री शीला दीक्षित के हाथों में दिल्ली की बागडोर है। भाजपा विपक्ष की कमजोर भूमिका निभा रही है। इसी रिक्तता को भरने के लिए केजरीवाल तत्पर हैं। अनेक आंदोलनों से दिल्ली में कांग्रेस के खिलाफ माहौल है, लेकिन इस माहौल को अपने पक्ष में भुनाने में भाजपा की साख कमजोर है। फलतः केजरीवाल को लगता है कि वे इसकी पूर्ति कर लेंगे। उन्होंने कांग्रेस के साथ भाजपा पर भी समान रूप से निशाना साधा है। कितनी सफलता मिलती है, यह तो समय ही बताएगा; परंतु चुनाव हारने, हरवाने के साथ ही जीतने की भूमिका भी तय होती है। आम आदमी पार्टी को जो भी सफलता मिलेगी, वह कांग्रेस और भाजपा दोनों के लिए खतरे की घंटी होगी।

टुनटुन मिश्रा, शकरपुर, दिल्ली

अद्यतन रूप आवश्यक

पिछले कुछ महीनों से 'युग सेतु' के अंक नहीं मिल रहे हैं, कृपया पुनः भिजवाना चालू करें। वेबसाइट पर भी यथासंभव अंक शीघ्र डालने से पत्रिका की विषय-सामग्री की जानकारी मिल जाती है। इससे पत्रिका न पहुँचने की कमी कम खलती है। अतः यथासंभव जल्दी वेबसाइट पर अंक डाला जाए। पत्रिका की वेबसाइट बहुत अच्छी है, समय पर पूर्व अंक डालते रहने से इसका अद्यतन रूप निखरेगा।

डॉ. शंकर प्रसाद, देहरादून, उत्तराखंड

पाठकगण

पत्रिका के संबंध में किसी भी तरह के सुझाव, विचार, प्रतिक्रिया आदि दूरभाष और ईमेल आईडी पर भी भेज सकते हैं। युग सेतु के पिछले अंकों को वेबसाइट www.yugsetu.com पर भी देखा जा सकता है।

संपादक

सत्यांश

व्यवस्था और बदलाव की चर्चा आजकल जोरों पर है, परंतु ये दोनों परस्पर पूरक होकर सतत गतिमान रहे हैं, चर्चा से अधिक कार्य-व्यवहार में। परिवर्तनशीलता का सृष्टि-नियम इतना शाश्वत है कि इस प्रक्रिया में कभी कह नहीं सकते कि फलां बदल गया है और अमुख नहीं बदला है। 'बदल गया है' कहने का मतलब होगा कि बदल कर ठहर गया है, जबकि बदलाव निरंतर प्रवाहमान है। इसमें ठहराव अल्पकालिक या दीर्घकालिक हो सकता है; परंतु सदा के लिए कभी नहीं। परिवर्तन स्वाभाविक रूप से 'अच्छी' और 'बुरी' दोनों दिशाओं में होता है, जिनका निर्णय प्राचीन ग्रंथों और लोक प्रचलन के नैतिक मापदंडों के आधार पर होता है। परिवर्तन को सुदिशा देने की सायास कोशिश भी होती है। इसमें अनगिनत चुनौतियाँ आती हैं। सबसे बड़ी चुनौती तो यही कि इसके लिए प्रयत्न का कोई निश्चित नियम या सिद्धांत नहीं होता। वैज्ञानिक परिवर्तनों में निश्चितता एक सीमा तक झलकती है; परंतु यह भी कब अनपेक्षित हो जाए, पता नहीं; अनिश्चित होने के बाद ही कहा जा सकता है।

छोटी-बड़ी व्यवस्थाएँ आवश्यकता के अनुसार बनती-बिगड़ती हैं। जब ये जरूरत के अनुसार नहीं बदलतीं, तब इनसे और इनमें भीतरी टकराव होता है। वर्तमान में भारतवर्ष में जिस व्यवस्था-परिवर्तन की परिचर्चा बुद्धिजीवियों, आंदोलनकर्ताओं एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा की जा रही है, वह मूलतः राजनीतिक सत्ता के मूल आधार पर अवस्थित है। संपूर्ण व्यवस्था परिवर्तन का संघर्ष बताकर इसे अन्य क्षेत्रों से भी जोड़ा जाता है। आपातकाल के समय जयप्रकाश नारायण ने इंदिरा गांधी को सत्ताच्युत करने के लिए जिस संपूर्ण क्रांति का आह्वान किया था, वह मूलतः राजनीतिक सत्ता का अल्पकालिक बदलाव भर साबित हुआ। इस समय भी भारत में हजारों आंदोलन भिन्न-भिन्न मांगों को लेकर चल रहे हैं। उनकी संख्या ठीक-ठीक कितनी है, बताना कठिन है; फिर भी अनेक बौद्धिकों व आंदोलनकर्ताओं की राय के समन्वित निष्कर्ष के आधार पर यह संख्या पचास से पचपन हजार तक पहुँच जाती है। विशाल लोकतांत्रिक कहे जाने वाले इस देश में इतनी बड़ी संख्या में संघर्ष-आंदोलनों का बरसों से चलना लोकतंत्र की विशेषताएँ हैं या विपरीतताएँ? कोई कह सकता है कि यहाँ का लोकतंत्र-जनतंत्र ही है, जिसके कारण इतने सारे आंदोलन अपने में धरना-प्रदर्शन, जुलूस, पदयात्रा आदि को समेटे चल रहे हैं। इन्हें अपनी माँगों को लेकर वह सब कुछ करने की छूट है, जो किसी स्वस्थ लोकतांत्रिक समाज के नागरिक को होनी चाहिए। हालाँकि व्यक्तिगत विरोध से लेकर सामूहिक स्तर तक शांतिप्रिय धरना, प्रदर्शन, जुलूस, सभा आदि पर सरकारी इशारों पर भीषण-क्रूर बल प्रयोग के तांडव ने इस दावे को भी तोड़ा है। आंदोलन-संघर्ष बहुत छोटी-छोटी मांगों को लेकर भी हैं और एक दूसरे की आकांक्षाओं के विरुद्ध भी हैं। इसके बावजूद, इतनी बड़ी संख्या में आंदोलनों का चलना क्या चिंताजनक नहीं है? इनमें से कुछ आंदोलन तो दशकों से चलते आ रहे हैं। इनका नेतृत्व करने वालों को राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से नवाजा जा चुका है, जिनके इतिहास में जाना अभी अनावश्यक है।

पहले के दौर को छोड़ भी दिया जाए, तो भी पिछले तीन-चार साल में ही अनेक ऐसे आंदोलन हुए हैं, जिनको मिला जनसमर्थन ऐतिहासिक रहा है। अन्ना हजारे के नेतृत्व वाला जनलोकपाल बिल के लिए आंदोलन, भूमि सुधार को लेकर पीवी रामाराव के नेतृत्व वाला आंदोलन, स्वामी रामदेव का कालेधन को वापस लाने का आंदोलन, गंगा-यमुना बचाओ आदि जैसे आंदोलन राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर चुके हैं। इनकी मुख्य मांगों से शासक वर्ग, सरकार, राजनीतिक दल और अनेक मामलों में अदालतें भी सहमत रही हैं। जब इनकी मांगों से सब जिम्मेदार पक्ष सहमत ही हैं, तो फिर मांगों की समीक्षा कर उसे व्यावहारिक जामा पहनाते हुए, आंदोलन खत्म क्यों नहीं होता? क्या शासक वर्ग की सहमति सिर्फ दिखावे की या कागजी है? जिन मांगों से समाज-सरकार का सीधा नीतिगत टकराव है, उनकी तो बात ही अलग है। जिन्हें वाजिब माना गया है, उन्हें फलीभूत कराकर आंदोलनकारियों की छुट्टी क्यों नहीं होती? भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उद्देश्य राजनीतिक रूप से अंग्रेजों से भारत को मुक्त कराना था, तभी गांधी जी ने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के तुरंत बाद इसे भंग कर देने की सलाह दी थी; परंतु कांग्रेस भंग न होकर अपनी उसी विरासत की बदौलत स्वयं को सत्ता का स्वाभाविक दावेदार मानती है। क्या आज के आंदोलनकर्ताओं का ऐसा कोई इरादा हो सकता है, जाहिर है कि नहीं। आंदोलनकर्ताओं की उचित सार्वजनिक मांगें अविलंब मानकर उन्हें अन्य कार्यों में लगने का मौका दिया जाना चाहिए। मगर जवाब में कहा जा सकता है कि उन्हें एक ही आंदोलन पर रोका किसने है?

अच्छा तो होता जब शासक वर्ग व नौकरशाह स्वयं

समसामयिक महत्त्व के विषयों पर गहन चिंतन-मूल्यांकन करते हुए ऐसे त्वरित व समय-सापेक्ष निर्णय-कार्य करते, जिनसे जनसाधारण के मन की मांगें जनता के नुमाइंदों द्वारा स्वतः पूरी हो जातीं। किसी को धरना, प्रदर्शन, जुलूस, अनशन आदि करने की जरूरत भी भला क्यों पड़े। यह कोई अच्छी चीज थोड़े है, मात्र मजबूरी दर्शाने का तरीका है। आखिर यह किसी आक्रांता की सरकार तो है नहीं, जिसके यहाँ बुनियादी जरूरतों वाली मांगों को लेकर नागरिक मर-मिटने को तैयार हो जाएँ। कई मामलों में आत्महत्या कर मर-मिटते भी हैं। शासक वर्ग चाहे राजनेता-मंत्री हों या नौकरशाह-कर्मचारी, स्वयं जन-भावनाओं को समझते नहीं या समझकर भी अनजान बने रहते हैं। ध्यान दिलाने पर टरकाते-टालते रहते हैं। तभी तो अब आंदोलन भी बेकाबू होने लगे हैं, अनगिनत संख्या में संघर्ष-विद्रोह पनप रहे हैं। यदि समयबद्ध ढंग में जनाकांक्षाओं के अनुरूप ईमानदारी से कार्य संपन्न हों, तो अधिकतर असंतोष उत्पन्न ही नहीं होंगे। जो थोड़े उत्पन्न हों, उनकी मांगों पर शीघ्र निष्पक्ष ढंग से विचार कर कार्यान्वयन हो। आखिर कोई शौक से आंदोलन तो करता नहीं? जो करते होंगे, वे कुछ थोड़े ही होंगे। अतः इतने बड़े पैमाने पर वह भी लंबे-लंबे समय से अधिकतर बहुस्वीकृत मांगों को लेकर चल रहे आंदोलन जनतांत्रिक व्यवस्था पर गंभीर प्रश्न-चिह्न हैं। यह जनतंत्र के लिए शुभ संकेत नहीं, वरन् भड़कते असंतोष के परिचायक हैं।

यह तो रही परिवर्तनकामी आंदोलनों की बात, पर जिस सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक व्यवस्था से मांगें मनवाने के लिए संघर्ष होते हैं, क्या उसमें भी परिवर्तन की मांगों की सुगबुगाहट है? जो अपने या सामूहिक मांगों को लेकर आंदोलनरत हैं, वे भी अन्यत्र इसी व्यवस्था के अंग नहीं हैं? सच में, ऐसा विरोधाभास जनतंत्र में तब तक विद्यमान रहेगा, जब तक हम अलग-अलग मांगों को लेकर खंड-खंड प्रयत्न करते रहेंगे। परिणामस्वरूप खंड-खंड समाधान भी किस्तों में उपलब्ध होगा यदि होगा भी तो। बहुत बार एक स्थान की समस्या-समाधानहीनता अन्य स्थानों की समाधानपूर्ण उपलब्धि को भी धूमिल कर देती है। इसलिए अलग-अलग समस्याओं का प्रयत्न व समाधान करते समय समग्रता में अन्य पक्षों को भी एक सूत्र में पिरोना होगा। इसीलिए व्यवस्था-परिवर्तन भी एक संपूर्ण-समग्र प्रश्न है और ठीक ऐसा ही उत्तर भी। व्यवस्था परिवर्तन क्यों - यह पूछना आज सूरज से अंधेरा माँगने जैसा ही है। जो व्यवस्था से खूब फायदा उठा रहे हैं, वे भी और जो व्यवस्था में पिस रहे हैं, वे भी त्रस्त हैं। एक जगह लाभ पाने वाले को अन्यत्र नुकसान की संभावना सिर्फ व्यवस्था की अक्षमता-भ्रष्टता के कारण बनी रहती है। जो लोग इसी नहीं, किसी भी कैसी भी व्यवस्था के लाभार्थी होते हैं, वह उन्हें सोने के पिंजड़े जैसा ही आकर्षक लगती है। जिसे बेशुमार लाभ ही लाभ मिलेगा, वह भला व्यवस्था पर क्योंकर अंगुली भी उठाएगा, विद्रोह तो बहुत दूर की बात है। इसी प्रकार जिस व्यवस्था में हमारा मानवीय, मानसिक, शैक्षणिक शोषण व दमन होता है, वह हमें क्यों अच्छी लगेगी? जिस व्यवस्था ने अव्यवस्था का एक ऐसा जाल-जंजाल फैला रखा है, जो अपने लिए जो चाहे मनमानी कर लेती है; परंतु एक साधारण नागरिक की बुनियादी व बिल्कुल मानवीय जरूरतों पर न स्वयं ध्यान देती है और न ध्यान आकृष्ट कराने पर देती है; उल्टे मौलिक, नागरिक व मानवीय अधिकारों को छीनने के लिए तरह-तरह के घिनौने हथकंडे अपनाती है, बेशर्मी का ताना-बाना बुनती है। ऐसी स्थिति में नीचे से लेकर ऊपर तक का शासकीय-सामाजिक तंत्र हमें जूझने के लिए ही प्रेरित करेगा। जिसकी थोड़ी-भी संवैधानिक, नागरिक, मानवीय व्यवस्था में आस्था होगी, वह इस जुझारू सामूहिक आत्म का संघर्षशील हिस्सा बनेगा।

अक्सर परिवर्तन-बदलाव की आवश्यकता से बहुत से लोग सहमत होते हैं, पर बदलाव कैसा हो, इसे लेकर सदैव अनेक मत होते हैं। कुछ बदलाव हमारी सहमति-असहमति के मुहताज नहीं होते। फिलहाल उनकी बात छोड़ दें, तो व्यवस्था को लेकर लोग कैसे बदलाव के आकांक्षी हैं - इसका उत्तर जटिल और माथा-पच्ची भरा है। भारत को विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र का तमगा प्राप्त है। यहाँ आजादी के बाद से आज तक चुनी हुई सरकारें ही कामकाज संभालती रही हैं, लेकिन क्या चुनी हुई सरकारों द्वारा कैसा भी कार्य-निष्पादन पर्याप्त है? अनेक राज्यों में तो चुनी हुई सरकारों को केन्द्र द्वारा बारम्बार उचित-अनुचित आधारों पर भंग किया जाता रहा है, बेशक केन्द्रीय सरकार इस प्रकार कभी भंग नहीं हुई है। यह संतोषजनक है, पर यही पर्याप्त है?

सरकारों को लोकतांत्रिक रूप देने के लिए ही निर्वाचन-प्रक्रिया बनाई गई है, इसलिए चुनाव का महत्त्व तो है, पर उससे अधिक चुनाव की सार्थकता इस बात में है कि उससे जनतंत्र की सफलता का कितना बड़ा आधार बनता है। ऐसे में किसी अन्य प्रक्रिया से अधिक जनतांत्रिक व्यवस्था बनती हो, तो उस पर विचार-कार्य की तलाश होनी चाहिए; परंतु चुनाव से इतर सोचने की आवश्यकता क्यों है? यह प्रश्न इससे भी जुड़ा है कि चुनाव सुधार की आवश्यकता क्यों है? सुधार हो तो कैसा हो? भारत में निर्वाचन का आधार राजनीतिक दल हैं, जिनका पूरा का पूरा कार्यक्रम अधिकतम मतदाताओं को किसी भी कीमत पर अपनी ओर

खींचना है। जितने अधिक मतदाता किसी दल के प्रति मतदान करते हैं, वही सत्तोन्मुखी होता है। स्वाभाविक है कि ऐसे में लोगों के संख्या-बल का महत्त्व बहुत अधिक होता है, न कि कैसे लोग जुड़े हैं इसका। इसी के कारण हमारा दलीय लोकतंत्र प्रदूषित हो गया है। अपवाद के सिवा कोई भी राजनीतिक दल ऐसा नहीं, जिसमें विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचार, दुराचार, अवैध वसूली, हत्या, डकैती जैसी आपराधिक पृष्ठभूमि के लोग न हों। दलों का एकसूत्री कार्यक्रम अपने कार्यकर्ताओं, समर्थकों की संख्या बढ़ाना बन गया है। इनके पास कोई जनहित का बड़ा कार्यक्रम नहीं है। दूसरी ओर, नौकरशाह व कर्मचारी जनता के प्रति शुष्कता ही अधिक रखते हैं। पूरा प्रशासनिक ढाँचा इन्हीं नौकरशाहों-कर्मचारियों का बन चुका है।

किसी भी राजनीतिक दल की सरकार बनने पर इनके द्वारा बने-बनाए ढाँचे में सेंध नहीं लगती। अधिकारियों-कर्मचारियों का इधर-उधर स्थानांतरण भी इसी ढाँचे का पोषण है। प्रशासनिक कार्यालयों के इस ढाँचे में परिवर्तन बहुत मुश्किल है, क्योंकि यह गहरे में जड़ें जमा चुका है। इसलिए सरकार चाहे किसी भी राजनीतिक दल की हो, पाँच-दस प्रतिशत से अधिक बदलाव की संभावना नहीं रहती है।

एक बार पूर्व केन्द्रीय मंत्री रामविलास पासवान ने कहा था कि भारत के केन्द्रीय मंत्री से अधिक ताकतवर सम्बद्ध विभाग का सचिव होता है। रामविलास पासवान एक मजबूत हैसियत रखनेवाले मंत्री रहे हैं। यह उनकी स्वीकारोक्ति है। यह हमारे जनतंत्र की सच्चाई है, क्योंकि नौकरशाहों का अपना नेटवर्क है, काम करने का बना-बनाया ढर्रा है और स्थानांतरण के बावजूद लंबे समय तक सेवारत रहते हैं, जबकि गठबंधन सरकारें और उनके मंत्रियों का अस्तित्व हमेशा संकटग्रस्त होने के कारण कमजोर होता है। जो किसी सौदेबाजी या समर्थन के बदले मंत्री पद पा गए हैं - उनकी स्थिति और अधिक शोचनीय होगी! इसलिए ऐसे मंत्रियों द्वारा जनहित का कार्य कम किया जाता है। नौकरशाह जैसा चाहते हैं, वैसा काम करा लेते हैं और इसके एवज में मंत्रियों को तरह-तरह की 'स्वार्थपूर्ति' के लिए मनमानी करने की छूट मिल जाती है। राजनीतिक दल खुद एक गिरोह की तरह बन चुके हैं, जिनका लक्ष्य सत्ता पाना भर है। इनके स्वयं के स्वरूप के कारण व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन संभव नहीं है। ये स्वयं इसी व्यवस्था के पौध-फल हैं।

सुधार रूप में परिवर्तन तभी तक सार्थक है, जब तक एक-दो अंगों की समस्या हो। जब पूरा तंत्र ही बीमार, यथास्थितिवादी, सुविधाभोगी, भ्रष्ट, कामचोर, दायित्वहीन, अक्खड़ हो, तब इलाज किसका और कैसे हो? पूरी व्यवस्था कैंसर से ग्रस्त है, इसलिए अब पहल व्यवस्था सुधार की नहीं, बल्कि नई व्यवस्था बनाने की होनी चाहिए। पूरा प्रशासनिक ढाँचा नए सिरे से खड़े करने की जरूरत है, एकदम नए रूप में। हालाँकि यह नयापन कितना नया होगा- यह विवादास्पद हो सकता है, क्योंकि सूक्ष्म सत्य यही है कि ऊर्जाओं का न तो निर्माण होता है और न विनाश, मात्र परिवर्तन-रूपांतरण होता है। ऐसे में नई व्यवस्था भी किसी न किसी रूप में पुराने से जुड़ी होगी, लेकिन इसमें अखण्डता के सिद्धांत-कारक के सिवा बाकी दुहराव से बचना पड़ेगा। दूसरी दिक्कत यह है कि कोई भी चीज अपनी अल्पता-सूक्ष्मता-सीमितता में जितनी पाक-साफ होती है, उतनी अपनी विशालता-व्यापकता में नहीं। जैसे-जैसे विस्तार होता है, उसमें अवगुण सन्निहित होते जाते हैं। इस प्रकार सिद्धांतों में लचीलापन न हो, तो विस्तार रुकता है और लचीलापन लाने पर सिद्धांतों का कचूमर निकलता है। प्रायः व्यक्तियों, प्रशासनिक ढाँचों, ईकाइयों, संस्थानों, संगठनों के विस्तार की यही परिणति होती है।

नई व्यवस्था कैसी हो और कैसे बने, यदि यह प्रश्न व्यवस्था के बनने से पहले चर्चा-बहस, तर्क-वितर्क का मुद्दा बन जाए तो अधिक संभावना यही है कि यह कभी जमीनी धरातल पर फलितार्थ न हो पाए। एकाएक नई व्यवस्था बनाकर व्यापक रूप देना भी दुरूह है। फिर जो परम्परागत पुराना ढाँचा अटल खड़ा है, उसकी ताकत भी कम नहीं है, बल्कि वह जैसा भी हो, पर सबल-सशक्त है। अपने को बचाने के लिए और नए को ध्वस्त करने के लिए कहीं तक जा सकता है, इसलिए नई व्यवस्था बनाने से अधिक मुश्किल पुरानी व्यवस्था से मुक्ति पाने की है, पुराने के हटे बिना नए का निर्माण कठिन है। फिर भी पहले नई व्यवस्था बनाते हुए पुरानी को मोड़कर उसकी ओर पर्यवसित किया जा सकता है। व्यवस्था-परिवर्तन की बहस आसान है, व्यावहारिक रूप देना कठिन। जिन्हें व्यवस्था का दंश मिला है, वे अलग-थलग हैं और जिन्हें व्यवस्था का दर्प मिला है, वे साम, दाम, दंड, भेद की नीति व सब साधन से संपन्न हैं।

अस्तु, इस बात के लिए आगे आना होगा कि एक नई व्यवस्था बने, क्योंकि अब पानी सिर से इतना बह चुका है कि व्यवस्था-सुधार या परिवर्तन की बात, बात के स्तर पर ही घिस-घिस कर बेमानी हो गई है। जब इस मांग की शुरूआत हुई थी, तब यह संभव हो सकती थी। व्यक्तिगत और आत्मिक रूप से पक्का विश्वास है कि एक तो सुधारपूर्ण परिवर्तन से काम नहीं चलने वाला और दूसरा, सुधारपूर्ण परिवर्तन भी व्यापक स्तर पर नहीं होने वाला; अतः नई व्यवस्था का आधार खोजना ही प्रासंगिक है। ✷